



दैनिक जागरण

Date: 31-05-22

जन-जन में स्वावलंबन

डॉ. विजय अग्रवाल, (आध्यात्मिक विषयों के लेखक व वक्ता)



सकल पदारथ एहि जग माहीं।

करमहीन नर पावत नाहीं॥

इस दोहे में महाकवि ने दो सर्वाधिक शाश्वत सिद्धांतों की स्थापना की है। इनमें पहला है कि प्रकृति स्वयं में पूर्ण रूप से समृद्ध है। व्यक्ति जो चाहता है और भविष्य में चाह सकता है, वह सब इस प्रकृति के पास है। किसी अन्य दुनिया में भटकने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञातव्य हो कि 'गीता' में श्रीकृष्ण ने स्वयं के स्वरूप को प्रकृतिगत बताया है। तुलसीदासजी ने भी 'सियाराम मय सब जग जानी' कहकर यही बात कही है। लेकिन सवाल यह है कि इस रत्न एवं स्वर्णगर्भा प्रकृति को मानवजाति स्वयं की समृद्धि में कैसे परिवर्तित करे? उसके लिए तुलसीदास जी ने दूसरे सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि 'कर्म के द्वारा'। कवि ने यहां जो 'करमहीन' शब्द का प्रयोग किया है, उसे गलती से 'भाग्यहीन' नहीं समझा जाना चाहिए। कवि ने यहां नकारात्मक वाक्य की रचना की है कि, कर्म न करने वाला व्यक्ति

प्रकृति के इस खजाने से कुछ भी नहीं पा सकता। यहां उनका ध्यान समाज और राष्ट्र से अधिक उसमें रहने वाले व्यक्ति के प्रति है।

'कर्म' के प्रति यह अवधारणा आरंभ से भारतीय जीवन के केंद्र में रही है। ऋग्वेद में एक व्यक्ति है, जो जुआ खेलता है। हारने के बाद पछताता है, लेकिन वह फिर से जुआ खेलता है। ऐसे में उस काल के एक ऋषि उससे कहते हैं, 'कृषि कृष्य' अर्थात् खेती करो। यह भाग्य के विरोध में श्रम का उद्घोष है।

हमारे दार्शनिक गुरु बृहस्पति कुआं खोदते हैं - 'ब्रह्मणस्पतिः'। यहां तक कि देवों के राजा इंद्र वज्र से भूमि को काटकर नदियों के लिए मार्ग बनाते हैं - वज्रेण खानि अतृणत नदीनाम। सच यह है कि हाथ; जिससे कर्म किये जाते हैं, का जितना महत्व ऋग्वेद में प्रतिपादित है, उतना शायद ही संसार के किसी ग्रंथ में हो। अगस्त्य एक अत्यंत श्रद्धेय ऋषि हैं। वे शक्ति चाहते हैं। वे संतान चाहते हैं और अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए कुदाल लेकर जमीन खोदते हैं।

हमें इस सत्य को आत्मसात कर लेना चाहिए कि हमारे ऋषि-मुनियों को किसी भी तरह के श्रम से किसी भी तरह का परहेज नहीं था। तभी तो ऋग्वैदिक ऋषि ने एक श्लोक रचा कि 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' अर्थात् श्रम किये बिना देवता मनुष्यों के मित्र नहीं होते।

श्रम के माध्यम से 'स्वावलंबन' के उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने की यह यथार्थवादी स्वर्णिम परंपरा भक्तिकाल में हमें अपने चरम पर दिखाई देती है। संत कबीर कपड़ा बुनते हैं। उन्हें किसी के भी सहारे की जरूरत नहीं है। यहां तक कि तत्कालीन सुल्तान मुहम्मद तुगलक तक के आमंत्रण को ठुकराने में उन्हें एक क्षण भी नहीं लगा। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुंभनदास खेती-बाड़ी करते थे। सम्राट अकबर के बुलावे पर वे एक बार राजधानी फतेहपुर सीकरी चले गये, जिसका पछतावा उन्हें जीवनभर रहा। तब उन्होंने अपने समकालीनों को स्वावलंबन का यह संदेश दिया-

संतन सो कहां सीकरी सो काम।

आवत-जात पनहियां टूटी, बिसरि गयो हरि नाम॥

हमारे भक्तिकालीन कवियों ने अपने जीवन जीने के तौर-तरीकों के जरिये हम सबको स्वावलंबन के तीन मूल्यवान सूत्र दिए। पहला यह कि कहीं भी मांगने मत जाओ। भिक्षा तक मत मांगो। कवि रहीम ने तो साफ तौर पर कहा कि, 'रहिमन वे नर मर चुके, जो कहि मांगन जाएं'। मांगना मर जाने जैसा है। तो फिर क्या करें? इसके लिए उन्होंने अगले दो उपाय सुझाए। उन्होंने कहा, श्रम करो, कमाओ और अपनी जरूरतें पूरी करो। महान भक्त-संत कवियों ने 'कर्म' को भक्ति में बदल कर एक नया आदर्श प्रस्तुत किया। तीसरी बात इन्होंने कही कि अपनी जरूरतों को सीमित रखो। इसके लिए एक मुहावरा प्रचलन में आया, 'उते पांव पसारिये, जिती लंबी सौर' अपनी चादर की लंबाई के अनुसार ही अपने पैर फैलाओ। इस विचार ने समाज में सादे और सरल जीवन को गरिमा प्रदान की। यहां तक कि इस सरल जीवन को ईश्वर तक पहुंचने के एक सुगम मार्ग के रूप में देखा जाने लगा। यह आज के उपभोक्तावादी जीवन-दर्शन के बिल्कुल विपरीत है। जाहिर है कि जब इच्छाएं ही सीमित हैं, तो दूसरों पर अवलंबित रहने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है।

संस्कृत और हिंदी में अनेक ऐसे नीतिपरक दोहे रचे गए, जिनकी आत्मा में स्वावलंबन की धड़कनें मौजूद हैं। इनमें से यहां मैं संस्कृत के उस एक श्लोक का विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूंगा, जो मेरे दिल और दिमाग में रच-बस गया है, जिसका मुझे स्वावलंबी बनाने में बहुत बड़ा योगदान रहा है। इस श्लोक को मैंने अपनी पांचवीं कक्षा की संस्कृत विषय की किताब से पढ़कर कंठस्थ कर लिया था :

उद्यमेन हि सिद्धान्ति कार्याणि न मनोरथैः।

न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥

अर्थात् कोई भी कार्य परिश्रम करने से ही पूरा होता है, इच्छा कर लेने मात्र से नहीं। यह ठीक वैसे ही है, जैसे कि सोये हुए शेर के मुंह में हिरण स्वयं प्रवेश नहीं करता है। इसे लेकर अपने यहां कुछ रोचक उपदेशयुक्त कहानियां भी लिखी गईं। खरगोश और कछुए की कहानी बताती है कि गति भले ही धीमी हो, लेकिन यदि उसमें निरंतरता है, तो वह तेज दौड़ने वाले खरगोश तक को परास्त कर सकता है। पंचतंत्र की एक कथा है, 'प्यासा कौआ'। इसमें एक कौआ थोड़े से जल वाले घड़े में कंकड़ डाल-डालकर तल में स्थित पानी को ऊपर लाकर अपनी प्यास बुझाता है। वर्षा हो रही है। चिड़िया

अपने घोंसले में सुरक्षित है, लेकिन पास में ही डाल पर बैठा एक बंदर वर्षा से भीगकर कुड़कुड़ा रहा है। बंदर को ठंड से कांपता देखकर चिड़िया उससे कहती है कि जब मैं एक छोटी सी चिड़िया तिनका-तिनका इकट्ठा करके अपना घर (घोंसला) बना सकती हूँ, तो तुम क्यों नहीं। आखिर वह कोई तो वजह होगी कि एक समय मैं भारत दुनिया का सिरमौर था। पौने तीन सौ साल पहले तक विश्व-बाजार में भारत की भागीदारी 23 प्रतिशत थी। इसकी वजह है-भारत का स्वावलंबी होना, जो उसकी चेतना में नैसर्गिक रूप से मौजूद है। हम फिर स्वावलंबन के साथ दुनिया का सिरमौर होने की राह पर बढ़ रहे हैं।

Date:31-05-22

निर्धारित हो न्यायिक लक्ष्मण रेखा

अभिषेक मिश्रा, (लेखक जर्मनी के हैबर्ग विश्वविद्यालय में विधिशास्त्र के प्राध्यापक हैं)

पिछले दिनों दिल्ली में मुख्यमंत्रियों और मुख्य न्यायाधीशों के 39 वें सम्मेलन में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी और देश के मुख्य न्यायाधीश एनवी रमणा भी शामिल हुए। इससे पहले इस तरह का सम्मेलन अप्रैल, 2016 को आयोजित हुआ था। लंबे अंतराल के बाद आयोजित इस सम्मेलन में कई प्रमुख मुद्दों पर चर्चा हुई, जिनमें से एक महत्वपूर्ण मुद्दा था भारत की स्वतंत्रता के सौ वर्ष पूरे होने के समय संघीय कार्यपालिका और उच्चतर न्यायपालिका के बीच रिश्तों का आकलन। विधायिका और कार्यपालिका के बीच संबंधों के बारे में यह मान्यता है कि कार्यपालिका संसद द्वारा पारित किसी कानून के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा सकती। अनुच्छेद 256 यह व्यवस्था देता है। न्यायाधीशों की नियुक्ति संघीय कार्यपालिका या कहें कि राष्ट्रपति द्वारा ही होती है। संघीय कार्यपालिका संवैधानिक दायित्व निर्वहन से बंधी है और उसे उच्चतर न्यायपालिका के फैसले को मानना ही होगा। यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सुप्रीम कोर्ट देश का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय होने के साथ ही एक संवैधानिक अदालत भी है। अमूमन संवैधानिक लोकतांत्रिक देशों में सर्वोच्च संघीय अपीलीय अदालत और संवैधानिक न्यायालय अलग-अलग होते हैं। अपीलीय अदालतें विधायिका द्वारा पारित कानून को न तो खारिज कर सकती हैं और न उसे निष्प्रभावी बना सकती हैं। वहीं संवैधानिक अदालत ऐसा कर सकती है। इसीलिए उसे 'संविधान की रक्षा' भी कहा जाता है। यहां अनुच्छेद 50 का उल्लेख भी आवश्यक है, जो लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने में राज्य की भूमिका को रेखांकित करता है।

भारत में यह प्रश्न बार-बार उठता है कि सुप्रीम कोर्ट में न्यायाधीशों की नियुक्तियां लोक सेवा के दायरे में आएंगी या नहीं? वास्तव में जजों की नियुक्ति का मसला ऐसा है, जिसने पिछले कुछ अर्से से टकराव की स्थिति पैदा कर दी है। अनुच्छेद-124 के तहत सुप्रीम कोर्ट में जजों की नियुक्ति होती है। इस अनुच्छेद का सरोकार मुख्य रूप से तीन संस्थानों से है। एक सुप्रीम कोर्ट, दूसरा सुप्रीम कोर्ट के जज और तीसरे भारत के मुख्य न्यायाधीश यानी सीजेआइ। साथ ही यह न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया भी निर्धारित करता है। इसमें एक प्रक्रिया न्यायाधीशों के लिए है तो दूसरी मुख्य न्यायाधीश के लिए। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के मुद्दे पर कोई पेच नहीं, क्योंकि उसमें वरिष्ठता के क्रम का ही ध्यान रखा जाता है। टकराव अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति को लेकर होता है।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अनुच्छेद 124 का संबंध न्यायाधीशों की चयन प्रक्रिया से न होकर, उनकी नियुक्ति से है। असल में नियुक्ति और चयन दो अलग-अलग पहलू हैं। सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति के लिए मुख्य न्यायाधीश से परामर्श आवश्यक है। राष्ट्रपति चाहें तो वह हाई कोर्ट के न्यायाधीशों से भी मंत्रणा कर सकते हैं। एसपी गुप्ता (1980) के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने न्यायिक नियुक्तियों और स्थानांतरण से जुड़ी प्रक्रिया को परखा एवं उसकी पड़ताल की। वास्तव में यही वह मामला था जब पहली बार कालेजियम शब्द का उल्लेख किया गया। कालेजियम की संकल्पना असल में इस उद्देश्य से की गई थी कि कि मुख्य न्यायाधीश किसी प्रकार अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न करें। हालांकि तब यह तय नहीं हो पाया कि कोलेजियम का ढांचा और प्रवृत्ति कैसी होगी? ऐसे में जनता को कभी यह पता ही नहीं चलता कि जजों की नियुक्ति या स्थानांतरण कैसे होता है और इस प्रक्रिया में किन नियमों एवं प्रविधानों का पालन किया जाता है? परिणामस्वरूप समूची प्रक्रिया कुछ लोगों के हाथ में सिमटकर गई है। सरकार ने इस प्रक्रिया में परिवर्तन के उद्देश्य से राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग यानी एनजेएसी बनाया, परंतु सुप्रीम कोर्ट ने उसके विरुद्ध वीटो कर उसकी राह रोक दी। न्यायपालिका की यह दलील थी कि एनजेएसी न्यायिक स्वतंत्रता में बाधक बन सकता है।

कृषि सुधार संबंधी तीन कानून और नागरिकता संशोधन कानून यानी सीएए के अनुभव यही बताते हैं कि लोकतंत्र वास्तव में एक दोधारी तलवार है। यह पारंपरिक संवैधानिकता के लिए एक बड़ी बाधा बन सकता है। हमने देखा कि कृषि कानूनों और सीएए को लागू करने में लोकतांत्रिक अधिकार किस प्रकार बाधक बने। हमें अभी तक यह नहीं पता चल पाया कि ये कानून संविधान-विरोधी अथवा गैर-कानूनी थे या फिर वे विरोध-प्रदर्शन, जिसने महीनों तक लोगों की आवाजाही रोके रखकर उनकी परेशानियां बढ़ाईं। सुप्रीम कोर्ट में रास्ते खाली कराने के लिए दायर की गई याचिकाओं को अनदेखा कर दिया गया। इसके बजाय उसने इन कानूनों की संवैधानिक वैधता की पड़ताल करने को प्राथमिकता दी। सीएए विरोधी प्रदर्शनकारियों के धरने से परेशान लोगों को राहत देने के बजाय उसने मध्यस्थ तय कर दिए।

कुछ ऐसे मामले होते हैं, जहां सुप्रीम कोर्ट की भूमिका संवैधानिक अदालत की होती है। एक संवैधानिक अदालत के रूप में सुप्रीम कोर्ट मध्यस्थ या न्यायिक भूमिका नहीं निभा सकता, क्योंकि संवैधानिक अदालत कोई पारंपरिक अदालत नहीं, जो विवादों का निपटारा करे। उसे तो कानूनों की व्याख्या ही करनी होती है। वास्तविकता यह है कि कानूनों की संवैधानिक वैधता मध्यस्थता का मसला नहीं है। यदि ऐसा होता है तो वह असंवैधानिक होगा। आशा करें कि ऐसी स्थितियां उत्पन्न नहीं होंगी और सुप्रीम कोर्ट अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप पहल करके भारत की जनता को आश्वस्त करेगा, जिनकी इस संस्थान में गहन आस्था है। यह तभी संभव है जब वह शक्ति के पृथक्करण संबंधी अलिखित नियमों की लक्ष्मण रेखा का पालन करे। ऐसा इसलिए, क्योंकि अंततः अदालतें ही तय करती हैं कि लक्ष्मण रेखा क्या है और कब उसका उल्लंघन किया गया ?



दैनिक भास्कर

Date: 31-05-22

निश्चित आय की नीति से आर्थिक भेद मिटेगा

संपादकीय

प्रधानमंत्री की आर्थिक सलाहकार परिषद ने वर्तमान परिदृश्य और राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय रिपोर्ट्स के मद्देनजर दो सबसे अहम सिफारिशें की हैं- पहला शहरों में भी मनरेगा की तरह रोजगार गारंटी योजना और दूसरा सबको एक न्यूनतम बेसिक आय। परिषद का मानना है कि गरीब-अमीर की खाई लगातार बढ़ रही है और इसे कम करने का एक ही उपाय है- सामाजिक सुरक्षा योजनाओं में सरकारी खर्च बढ़ाना ताकि कमजोर तबके आर्थिक उतार-चढ़ाव से और नीचे न फिसलें। यूएनडीपी के अनुसार स्वास्थ्य के बढ़ते खर्च के बीच अगर परिवार का कोई सदस्य गंभीर बीमार हो जाए तो परिवार गरीबी की गर्त में चला जाता है। महंगी शिक्षा के लिए परिवार कई बार जीवन-यापन का एक मात्र साधन खेत बेच देता है। परिषद ने गरीबी-अमीरी की खाई पर आंकड़े देते हुए कहा कि देश में असली गरीबी की तीव्रता और गरीबों की वास्तविक संख्या का आकलन पिछले 11 वर्षों से नहीं हुआ है। जो भी सरकारी या निजी आंकड़े दिए जाते हैं वे सभी सन् 2011-12 के एनएसओ के उपभोग के आंकड़ों के प्रोजेक्शन पर निर्भर हैं। जरूरत है कि आय असंतुलन के इस दौर में गरीबी का सही आकलन करने के लिए उसके द्वारा खपत की स्थिति का जायजा लिया जाए। परिषद ने पीरियाडिक लेबर फोर्स सर्वे की तीन रिपोर्ट्स के आधार पर अनुशंसाएं की हैं। लांसेट की ताजा रिपोर्ट कहती है कि दुनिया में सबसे ज्यादा लोग भारत में वायु प्रदूषण से (16.70 लाख) और जल प्रदूषण से (13.60 लाख) मरते हैं। इनमें से अधिकांश गरीब होते हैं। भारत जैसे देश के लिए यह हानि गरीबी और बढ़ाने वाली है। ऐसे में निश्चित आय की नीति सही होगी।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 31-05-22

व्यापार विरोधी कदम

संपादकीय

केंद्रीय उद्योग एवं वाणिज्य मंत्रालय ने गत सप्ताह एक वक्तव्य जारी करके कहा कि अखबारी कागज समेत किसी भी प्रकार के कागज के आयात के पहले पूर्व पंजीयन कराना जरूरी होगा। नई व्यवस्था के मुताबिक 1 अक्टूबर से कागज का आयात कागज आयात निगरानी प्रणाली के अधीन होगा जिसके तहत आयातकों को खुद को उसी तरह पंजीकृत करना होगा जैसे कि अतीत में कोयला और इस्पात क्षेत्र में करना होता था। एक और उद्योग में लाइसेंस कोटा राज की वापसी

को कतई उचित नहीं ठहराया जा सकता। देश में यह एक और ऐसा कदम है जो उदारीकरण के पहले की दिशा में बढ़ रहा है, खासतौर पर मंत्रालय ने जो विशिष्ट स्पष्टीकरण मुहैया कराया है उसकी प्रकृति संरक्षणवादी है। संबंधित वक्तव्य में कहा गया है, 'यह इस श्रेणी में मेक इन इंडिया तथा आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देने की दिशा में दूरगामी कदम साबित होगा।' मेक इन इंडिया की अवधारणा भारतीय उद्योग जगत को विश्व स्तर पर प्रतिस्पर्धी बनाने की थी लेकिन उसका लगातार दुरुपयोग जारी है।

क्या भारतीय पेपर मिलों के पास यह शिकायत करने की उचित वजह है कि इस क्षेत्र में भारत के कुछ कारोबारी साझेदार देश डंपिंग कर रहे हैं? शायद। डंपिंग एक तकनीकी शब्द है जो यह संकेत देता है कि किसी वस्तु को किसी खास देश में उसके मूल देश की उत्पादन लागत से भी कम दाम पर बेचा जा रहा है। क्या हाल के महीनों में कागज उद्योग के सामने ऐसी स्थिति बनी है? यह सही है कि 2020 में की गई जांच में यह अनुशंसा की गई थी कि कागज से संबंधित कुछ उत्पादों पर पांच वर्ष के लिए एंटी डंपिंग शुल्क लगाया जाए। यह स्पष्ट नहीं है कि इसके लिए क्या अनुमान और मॉडल इस्तेमाल किए गए। चाहे जो भी हो, यदि वास्तविक चिंता डंपिंग की है तो मंत्रालय को एक लक्षित, समुचित एंटी डंपिंग शुल्क लागू करना चाहिए, न कि आयात लाइसेंस की वापसी करनी चाहिए। यह बात भी ध्यान देने लायक है कि न्यूजप्रिंट के आयात पर पहले ही 5 प्रतिशत सीमा शुल्क लागू है। क्या ऐसा कोई प्रमाण है कि यह डंपिंग को रोकने में नाकाफी है? यदि ऐसा है तो जनता के समक्ष भी इसका प्रमाण प्रस्तुत किया जाना चाहिए। कई परिपक्व अर्थव्यवस्थाओं में ऐसे स्वतंत्र प्राधिकार हैं जो उत्पादकों, आयातकों तथा उपभोक्ताओं की बात को सुनने के बाद यह तय करते हैं कि आयात से क्या नुकसान हो रहा है। इसके पश्चात स्वतंत्र बोर्ड नियामक उनके निष्कर्षों पर मतदान करते हैं और इस मतदान को भी सार्वजनिक किया जाता है। भारत में भी ऐसी व्यवस्था लागू करने की आवश्यकता है।

खासतौर पर विचित्र बात यह है कि सरकार का यह कदम ऐसे समय पर आया है जब वैश्विक न्यूजप्रिंट कीमतों में तेज इजाफा हो रहा है। न्यूजप्रिंट की कीमत 2020 के निचले स्तर से तीन गुनी हो चुकी है। घरेलू कीमतें भी उसी अनुरूप बढ़ी हैं। यदि भारतीय कागज उद्योग इन हालात में भी अपनी क्षमता का इस्तेमाल कर पाने में नाकाम है तो विदेशी उत्पादकों को क्या दोष देना। समस्या तो आंतरिक है। परंतु जब अफसरशाही में संरक्षणवादी भावना प्रबल हो तो ऐसा होता ही है। औद्योगिक लॉबी अधिकारियों और राजनेताओं को यह विश्वास दिलाने का प्रयास करती हैं कि भावी संरक्षण की कोई वैकल्पिक नीति है ही नहीं। इस प्रक्रिया में वृद्धि, उत्पादकता और उपभोक्ता कल्याण आदि सभी प्रभावित होते हैं। लाइसेंस राज में भारत की यही स्थिति थी। कागज के उत्पादों के आयात पर लगने वाली सीमाओं को हालिया निर्यात प्रतिबंधों, शुल्क वृद्धि और अन्य व्यापार विरोधी कदमों के साथ रखा जाना चाहिए जो बताते हैं कि राजनीतिक नेतृत्व ने वृद्धि के स्रोत के रूप में बुनियादी आर्थिक सिद्धांत के बजाय शंकालु व्यवहार को पनपने दिया है।

Date:31-05-22

भारत के सामने टिकाऊ विकास के अवसर

जैमिनी भगवती, (लेखक भारत के पूर्व राजदूत एवं वर्तमान में सेंटर फॉर सोशल एंड इकनॉमिक प्रोग्रेस के फेलो हैं)

पश्चिमी मीडिया ने 24 फरवरी को यूक्रेन पर रूसी आक्रमण के बाद भारत में और भारत से होने वाली उच्चस्तरीय यात्राओं का समाचार जमकर प्रसारित किया। इनमें गत 14 मई को द इकनॉमिस्ट में प्रकाशित एक असामान्य रूप से अनुकूल रिपोर्ट शामिल थी। तात्पर्य यह है कि रूस और उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) के बीच जर्मनी में लड़े जा रहे अघोषित युद्ध ने भारत के लिए अवसरों की भरमार कर दी है। भारत अब पश्चिम के साथ अपने सामरिक और आर्थिक हितों में अधिक समायोजन चाह सकता है क्योंकि पश्चिमी धड़े की भारत जैसे देश को अपने पक्ष में करने की चाह होगी। इस आलेख में इसी विचार की पड़ताल की गई है।

क्राइमिया को कैथरीन द ग्रेट ने 18वीं सदी के अंत में रूसी साम्राज्य में शामिल किया था और वह सोवियत संघ का हिस्सा था। ऐसे में व्लादीमिर पुतिन के पास 2014 में क्राइमिया को वापस लेने की उचित ऐतिहासिक, सामरिक और आर्थिक वजहें थीं। तुलनात्मक रूप से देखा जाए तो यूक्रेन पर रूसी आक्रमण के पीछे आर्थिक या सैन्य दृष्टिकोण से पर्याप्त तर्क नहीं हैं। यहां तक कि यूक्रेन के मारियूपोल बंदरगाह पर 18 मार्च को किया गया कब्जा भी अति थी।

18 मई को फिनलैंड और स्वीडन ने औपचारिक रूप से नाटो की सदस्यता के लिए आवेदन किया। तुर्की की आपत्ति के बावजूद लगता है कि ये दोनों देश नाटो के सदस्य बन ही जाएंगे। इसके दो दिन पूर्व 16 मई को पुतिन ने रूस के नेतृत्व वाले सुरक्षा संधि संगठन में खामोश प्रतिक्रिया दी थी। उन्होंने बस यह कहा कि रूस नहीं चाहता कि इन दोनों देशों में नाटो का कोई सैन्य बुनियादी ढांचा स्थापित हो।

देखा जाए तो रूस एक क्षमता संपन्न सैन्य और परमाणु हथियार वाला देश है और यूक्रेन के नाटो में शामिल होने से उसकी क्षेत्रीय अखंडता और सुरक्षा को कोई खतरा नहीं हो सकता। पूर्व सोवियत संघ किसी बाहरी सशस्त्र हस्तक्षेप से नहीं टूटा। यकीनन अमेरिकी नेतृत्व में पश्चिमी देशों ने सोवियत साम्राज्य को क्षति पहुंचाने का हरसंभव प्रयास किया। सोवियत संघ के विभाजन की दो प्रमुख वजहों में से एक तो यह थी कि समाजवादी गणराज्य रूस से आजादी और बेहतर जीवन चाहते थे। यूक्रेन पर रूस के इस हमले के कई कारणों में से एक पुतिन और उनके इर्दगिर्द के लोगों को उन लोगों के संभावित खतरे से बचाना भी हो सकता है जो इस बात से असंतुष्ट हैं कि उनके देश की प्रति व्यक्ति आय यूरोपीय संघ के देशों के समान नहीं है।

जी 7 और नाटो देशों के साथ चीन की आर्थिक और आपूर्ति शृंखला संबंधी संबद्धता रूस की तुलना में बहुत गहरी है। हालांकि चीन ने काफी आर्थिक प्रगति की है लेकिन एकदलीय चीन का नेतृत्व पश्चिम को लेकर रूस की चिंताओं का साझेदार हो सकता है। उदाहरण के लिए अमेरिका-यूरोपीय संघ और यूनाइटेड किंगडम चीन में बहुदलीय लोकतंत्र का उभार चाहेंगे जो पश्चिम की आर्थिक और सामरिक प्राथमिकताओं के अनुरूप हो। इस संदर्भ में पश्चिम का राजनीतिक-सैन्य प्रतिष्ठान शायद रूस और चीन को एक साथ रखने के बजाय त्रिकोणीय स्थिति में रखना चाहता है।

यूक्रेन में अघोषित युद्ध ने यूरोप की बड़ी अर्थव्यवस्थाओं जर्मनी, फ्रांस और यूनाइटेड किंगडम तथा नीदरलैंड को रूस के विरुद्ध एकजुट किया। यूरोपीय संघ के लिए चीन रूस की तुलना में अधिक अहम कारोबारी और निवेश साझेदार है। बहरहाल, ऐसा प्रतीत होता है कि यूरोपीय संघ की व्यापक अर्थव्यवस्थाएं चीन के साथ समग्र संबंध को लेकर पुनर्विचार कर रही हैं। इस बदलाव का एक लक्षण यह है कि दिसंबर 2020 का यूरोपीय संघ-चीन निवेश समझौता अब तक यूरोपीय संसद में अटका हुआ है।

भारत के आर्थिक पहलुओं की बात करें तो अभी भी कई कारक हमारे अनुकूल हैं। उदाहरण के लिए युवा बढ़ती तादाद में सूचना प्रौद्योगिकी ऐप्लीकेशन का इस्तेमाल कर रहे हैं। भारत चीनी वस्तुओं पर उच्च अमेरिकी शुल्कों का फायदा उठा सकता है और निर्यात को बढ़ावा दे सकता है जैसा कि वियतनाम ने किया और नाभिकीय ऊर्जा समेत नवीकरणीय ऊर्जा का उत्पादन बढ़ा सकता है। पश्चिम शायद अब अपने निजी क्षेत्र को वे तकनीक साझा करने को कह सके जो अब तक पहुंच से बाहर थीं। इसके अलावा भारत समग्र अर्थव्यवस्था में औपचारिक क्षेत्र की हिस्सेदारी बढ़ा सकता है और प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों के संग्रह में तेजी से इजाफा किया जा सकता है। भारत को जो सबसे कठिन बदलाव करने होंगे उनमें भारतीय राजनीतिक दलों द्वारा बिजली और खाद्य सब्सिडी तथा रोजगार-शिक्षा कोटा व्यवस्था शामिल हैं।

भारत के लिए ये आर्थिक चुनौतियां नयी नहीं हैं। लेकिन भारत के पक्ष में हालिया रणनीतिक बदलाव के कारण बाहरी माहौल में जो सुधार आया है वह एक बड़ा अंतर है। भारत को पश्चिम के साथ अपेक्षाकृत अनुकूल परिस्थितियों का लाभ उठाना चाहिए। यह लाभ व्यापार, निवेश और खासतौर पर तकनीक संबंधित समझौतों में लिया जा सकता है। भारत को रूस के मामले में भी अमेरिका, यूरोपीय संघ और यूनाइटेड किंगडम के साथ संबंधों को संभालना चाहिए, वह भी बिना किसी पक्ष को नाराज किए।

भारत को लेकर चीन की शत्रुता निरंतर जारी है। मई 1998 में भारत के परमाणु परीक्षण के समय भी यह प्रत्यक्ष नजर आई थी और अक्टूबर 2008 में भारत-अमेरिका परमाणु समझौते के संदर्भ में परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह के भीतर भी यह नजर आई। चीन के साथ गहन आर्थिक संबंधों के बावजूद अमेरिका अब उसे पश्चिम के लिए गंभीर चुनौती की तरह देखता है। इस संदर्भ में टोक्यो में 23-24 मई को अमेरिका, भारत, जापान और ऑस्ट्रेलिया (क्वाड) के प्रमुखों की बैठक में इंडो-पैसिफिक इकनॉमिक फ्रेमवर्क फॉर प्रॉस्पेरिटी (आईपीईएफ) के गठन की घोषणा हुई जिसमें सभी प्रमुख आसियान देश, दक्षिण कोरिया और न्यूजीलैंड शामिल होंगे। कुछ दिन पहले अमेरिका ने चीन की अपेक्षित नाराजगी को दरकिनार कर दिया था जब अमेरिकी उप मंत्री और तिब्बती मामलों की विशेष समन्वयक उजरा जेया ने 19 मई को धर्मशाला में दलाई लामा से मुलाकात की थी।

गर्म तपते रेतीले इलाकों में यात्रा कर रहे लोगों को अक्सर कुछ दूरी पर पानी के होने का आभास होता है जो दरअसल कुछ और नहीं बल्कि मृग मरीचिका होती है। ऐसी मरीचिकाओं के उलट भारत अगर सही कदम उठाता है तो वह टिकाऊ उच्च आर्थिक वृद्धि हासिल कर सकता है और चीन के बरअक्स अपने क्षेत्रीय तथा अन्य जोखिमों को कम कर सकता है।



सरकार का लोक कल्याणकारी स्वरूप सदैव स्वागत योग्य है। नरेंद्र मोदी सरकार की आठवीं वर्ष गांठ पर कोरोना के समय अनाथ हुए बच्चों के बारे में जो योजना या राहत घोषित हुई है, वह बहुप्रतिक्षित और अनिवार्य है। इससे सरकार के लोकल्याणकारी स्वरूप को बल मिलेगा, साथ ही, दूसरी योजनाओं के लिए भी सकारात्मक प्रेरणा मिलेगी। पीएम केयर्स फॉर चिल्ड्रन स्कीम के जरिये कोगेना से अनाथ हुडबच्चों के लिए स्कॉलरशिप और अन्य आर्थिक सहायता की हुई है।

प्रधानमंत्री ने सोमवार को वीडियो कांफ्रेंसिंग के जरिये बच्चों के लिए पीएम केयर योजना के तहत अनेक लाभ की घोषणा की है। उन्होंने स्कूल जाने वाले बच्चों को छात्रवृत्ति दी है। पीएम केयर फॉर चिल्ड्रन की पासबुक और आयुष्मान भारत-प्रधानमंत्री जन आरोग्य योजना का स्वास्थ्य कार्ड भी भेंट किया है। वैसे यह पिछले वर्ष ही स्पष्ट हो गया था कि केंद्र सरकार अनाथ हुए बच्चों को सहारा देने के लिए अनेक उपाय करेगी। बेशक, आज ऐसे बच्चों को अधिकतम देखभाल व मदद की जरूरत है, केंद्र ही नहीं, राज्य सरकारों को भी ऐसे बच्चों के साथ खड़ा होना चाहिए। दुनिया में दूसरी सरकारों ने भी अपने यहां अनाथ हुए बच्चों के हित में कदम उठाए हैं। सरकारें होती ही इसलिए हैं कि जरूरतमंदों को भरपूर सहारा दें।

प्रधानमंत्री ने रहत-मदद की घोषणा करते हुए उचित ही यह कह्य है कि मैं प्रधानमंत्री के रूप में नहीं, बल्कि परिवार के सदस्य के रूप में संबोधित कर रहा हूं। जरूरी है, सरकार के सभी अंग प्रधानमंत्री की मंशा के अनुरूप ही जरूरतमंद बच्चों को अपने परिवार का सदस्य मानकर चलें। ऐसे बच्चों की शिक्षा से लेकर रोजगार तक की चिंता सरकार को करनी चाहिए बच्चे स्वास्थ्य कार्ड से पांच लाख रुपये तक की युसत फ्त सेवाओं का लाभ उठ सकते हैं। सरकार ने ऐसे बच्चों के नामांकन के लिए ऑनलाइन पोर्टल शुरू किया है, जिसके माध्यम से बच्चों के नाम अनुमोदन की प्रक्रिया व अन्य कार्य आसानी से किए जा सकेंगे। सभी सरकारों को यह सुनिश्चित करना होगा कि जरूरतमंद बच्चों तक मदद आसानी से पहुंच सके। एक भी बच्चा वंचित नहीं रहना चाहिए। साथ ही, यदि हो के! तो उन सभी बच्चों को मदद दी जाए, जो मां या पिता में से किसी एक को भी खो चुके हैं। दोनों अभिभावकों के कोरोना से निधन की अनिवार्यता को मानवीय व व्यावहारिक दृष्टि से देखना चाहिए। बच्चों के आवेदनों में तकनीकी खामियों या कमियों को भी उदारता से दूर करना चाहिए। एक-एक बच्चे तक मदद पहुंचाने की प्रधानमंत्री की कोशिश तभी कामयाब होगी, जब अधिकारी भी पूरी ईमानदारी से अनाथ बच्चों का सहारा बनेंगे। सबसे जरूरी है कि ऐसे बच्चों का सही डाय एकत्र किया जाए। यहां केवल सरकार ही नहीं, स्थानीय सामाजिक संगठनों की भी जिम्मेदारी बनती है। आखिर ऐसे कितने बच्चे हैं ? चूंकि सरकार के पास अभी स्पष्ट डाटा नहीं है, इसलिए तरह-तरह के अध्ययन सामने आए हैं। द लैंसेट के अध्ययन के अनुसार, भारत में लगभग 9 लाख बच्चों ने कोविड-49 के चलते माता-पिता या दोनों में से किसी एक को खोया है। दूसरी ओर, इस साल 5 फरवरी तक महिला और बाल विकास मंत्रालय के पास कुल 3,890 कोविड अनाथों का डाटा पंजीकृत था। मतलब,

आधिकारिक रूप से डाय दुरुस्त करने का अहम कार्य शेष है। योजना की सफलता इसी में है कि हर जरूरतमंद बच्चे तक जल्द से जल्द मदद पहुंचे।



Date: 31-05-22

Fuelling Federal Fights

Bitter Centre-state disputes over tax cuts, GST role show huge trust deficit

Duvvuri Subbarao, [The writer is a former finance secretary, GoI and former RBI governor.]

The Supreme Court's recent ruling that GST Council decisions are not binding on states can at one level be seen as a reiteration of the constitutional provision – there is nothing in constitutional amendments relating to GST to force compliance with GST Council decisions. It's just a healthy convention that has developed that the Centre and states have decided to fall in line with the Council's collective decisions.

All governments still go back to their respective legislatures to give statutory sanction to GST Council decisions, which means the ultimate power continues to reside with legislatures.

But the ruling can also be interpreted as giving a free pass to states to defy the Council, implement their own rates and jeopardise the 'one nation, one tax' principle. That will potentially set off a race to the bottom and re-balkanise the common market that we sought to create with a nationwide GST.

What is certain though is that the SC decision is bound to ignite tensions around fiscal federalism, which has come under repeated assault of late.

Take for instance the PM's conference with CMs last month where he is reported to have chided non-BJP governed states for not cutting VAT on petrol and diesel. He urged they should follow the tax-cutting example of BJP CMs. Predictably, non-BJP CMs hit back. Another round of accusations and counters followed after recent fuel tax cuts by the Centre.

Centre-state disputes are not new, but the high trust deficit we now see is new.

As finance secretary of undivided Andhra Pradesh in the 1990s, I attended a meeting of the Inter-State Council in Delhi, during the tenure of the HD Deve Gowda-led government. The meeting was presided over by the then home minister, Indrajit Gupta, and at issue was the minimum share of Centre's revenues states should get as plan and non-plan transfers.

There were over a dozen CMs in attendance and each of them made a high decibel intervention, typically asking for the moon. Over three hours into the meeting, we were nowhere close to a meeting point. In

despair, Gupta took the mike and earnestly appealed for states to understand the Centre's pressing expenditure commitments.

There was total silence, possibly for about 20 seconds. Then, Jyoti Basu spoke, addressing fellow CMs rather than the chair, and said something approximately as follows: "Look, we've all made our point. We've also heard the home minister saying the Centre has financial constraints and can't give away so much. As much as we speak for states, we should also see the national perspective."

Two minutes later, a consensus was reached. It's a different matter that that consensus got lost in some files as the Deve Gowda government fell within weeks after that.

It's the type of constructive understanding Basu had argued for that we desperately need today.

The Centre must realise that structural and governance reforms necessary to get to a \$5 trillion economy require not just states' consent but also their active involvement. It must also realise that the fiscal centre of gravity has slowly but decisively shifted in states' favour. Ballpark estimates suggest that the Centre collects about 60% of the combined revenue but gets to spend only about 40% of the total. States collect 40% of the combined revenue but have the pleasure of spending 60% of it.

What this implies at a big picture level is that our macroeconomic stability, and hence our ability to generate investment and growth, will depend on collective fiscal responsibility by the Centre and states.

States on their part must acknowledge that our arrangements of fiscal federalism – even if not yet the best practice – are not necessarily skewed against them as is commonly believed.

First, as indicated above, fiscal aggregates have shifted in their favour and are likely to continue to do so. Second, not only do states get to spend a higher share of the combined expenditure but, with the abolition of the Planning Commission, they also enjoy greater autonomy on how to spend that money.

Finally, notwithstanding the SC order, it's short-sighted for states to see GST as a central initiative that required forced compromises on their part. Sure, states have surrendered some of their autonomy in raising taxes but so has the Centre. Some give and take is inevitable in a national project like this. Eventually though, as GST expands the tax base and arrests tax leakage, all parties stand to benefit.

The PM called for cooperative federalism. Ironically, he did that in the same meeting where he gave a partisan BJP vs non-BJP colour to fuel tax cuts. That was hardly the right start. The path to cooperative fiscal federalism lies in following Basu's exhortation to jettison politics when it comes to national goals.

THE ECONOMIC TIMES

Date: 31-05-22

India-US Tread Firm On the Trade Front

Ample scope to deepen manufacturing trade

ET Editorials



The US became India's largest trading partner in the previous fiscal year as the former's economy recovered faster from the pandemic than China's. Exports grew by 47% and imports by 49% from the prior year to take twoway trade to \$119. 42 billion. This is a whisker ahead of the \$115. 42 billion bilateral trade with China, which grew entirely due to a 44% rise in imports as exports remained flat. Trade with the US is more equitable for India, which ran up a surplus of \$32. 8 billion, as opposed to a \$72. 91 billion deficit with China. This is a stupendous 62% of India's trade with China, and these terms are less favourable than the US-China trade where the deficit to Washington and the surplus to Beijing is 46% of the bilateral value. It makes sense for the US and India to deepen ties from the perspective of

terms of trade.

On the face of it, the reordering of India's trade partners could be a blip till global supply chains that have China at their core revive from coronavirus lockdowns, and trade disruptions caused by the Russia-Ukraine conflict. Yet, there is reason to believe this signifies a longer-term shift. India's merchandise trade with the US is principally in commodities like mineral oil, diamonds, generic drugs and shrimp. There is ample scope to deepen manufacturing trade as supply chain resilience gains traction among policymakers. India, too, has been pushing domestic manufacturing through production incentives and tariff hikes. The two nations earlier this month became signatories to the Indo-Pacific Economic Framework (IPEF) that has as its key underpinning a 'China Plus One' supply diversification strategy.

Also working for India are its technology services exports, half of which are destined to the US. Essentially, a quarter of the country's services exports are headed to the US, and the scope for scaling up has improved with the growth of cloud services and enterprise digitisation. This is a longer trend that will outlast a surge in merchandise trade caused in part by Washington's fiscal stimulus for the pandemic.

Date:31-05-22

NITI Needs a New Plan

Ajay Chhibber, [The writer is senior visiting professor, Indian Council for Research on International Economic Relations (ICRIER), New Delhi.]

With a new deputy chairman of NITI (National Institution for Transforming India) Aayog taking over earlier this month, it may be time to rethink its role. For India, the experiment with 'no planning' has not worked. India still needs some form of new planning —or, at least, a framework to guide it to achieve shared and sustainable prosperity over the next 25 years, but with flexibility to deal with uncertainties. To achieve and help guide this, NITI Aayog needs a revamp.

India has a long and a chequered history of planning, with some success but many failures. It has tried three distinct types of planning: directed planning, indicative planning, and now 'a strategy, but no planning'. It needed to replace the Planning Commission, but not give up on planning altogether. In doing so in August 2014, India may have thrown the baby out with the bathwater.

It is difficult to disentangle the role of planning and planning systems from broader economic policy choices in determining socioeconomic outcomes. India followed a policy of import substitution with state-led development during 1950-90. As a result, its economy grew slowly at around 3-4% GDP and poverty increased. India's economy started to do better from 1980 when there was some internal liberalisation. But the more sustained jump in economic growth came from the 1991 reforms that allowed the private sector to invest and grow.

It also shifted from more directed planning to indicative planning starting with the 8th 5-Year Plan (1992-97), but went on to prepare 5-year plans without levers to achieve announced plan targets. As a result, planning, as practised, lost relevance. In addition, planning remained heavily top-down with GoI controlling many levers, financial and otherwise. This lack of 'cooperative federalism' was highlighted by inadequate consultative processes in preparing plans by the Planning Commission, and by proliferation of prescriptive onesize-fits-all central schemes in areas considered largely state subjects.

In 2014, with the creation of the thinktank NITI Aayog, India went away from planning at a time when the number of countries with a national development plan has more than doubled — from about 62 in 2006 to 134 in 2018. More than 80% of the global population now lives in a country with a national development plan of one form or another. This is a stunning recovery of a practice that had been discredited in the 1980s-90s as a relic of directed economies and state-led development.

Several factors have fostered this 'new national planning'. But from about 2015, the momentum for producing plans has accelerated, driven in part by a need to plan for Sustainable Development Goals (SDGs). NITI Aayog should also prepare a National Investment Financing Framework to outline how best to achieve that vision and, in the interim phase, to achieve SDGs.

NITI Aayog should be preparing a long-term perspective vision, possibly all the way to 2047, with an interim target of 2030 to dovetail that vision to the agreed SDGs and 3-5-year frameworks to move towards that vision. Without such a compass, and with rising inequalities and looming climate change challenges, it is not clear what direction India is headed towards and how it should try and get there. Antoine de Saint-Exupéry in his 1943 book, *The Little Prince*, said it best, 'A goal without a plan is just a wish.'

It need not be given financial powers, especially as the distinction between plan and non-plan expenditures does not exist any more. But it should have the power to sign off on capital and recurrent expenditure allocations to central ministries, states and local administrations. Without such a sign-off power, it can be easily bypassed and ignored.

NITI Aayog should be given a much clearer and vital role with a leadership team that has the requisite political backing and technical skills. It should be a cabinet minister — a minister of economic development — who should be at all cabinet meetings, a voice for long-term sustainable development. The institution should be authorised through an Act of Parliament so that it can have the required legitimacy and be answerable to Parliament.

The technical skills and sectoral expertise should also include expertise in economic systems and behavioural modelling, critical to understanding how market forces react to policy changes under indicative planning, and how development outcomes are affected by a variety of interventions, to achieve the SDGs. It should have the expertise to be a systems reform commission to address intersectoral linkages and future challenges such as climate change and meeting SDG targets, as well as ensure greater horizontal equity between states through a few core central schemes and lead the way forward. What it must not be is just a reactive body, tasked with piecemeal special projects.

The current NITI Aayog needs a legitimised authorising environment, perhaps working through the constitutionally mandated Inter-State Council in the spirit of cooperative federalism.
